वस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजभटात्मकम्। तथान्यच्च नृपेत्थं तन्न सत्सङ्कल्पमनामयम्॥९९॥
यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै। परिणामादिसम्भूतां तद्वस्तु नृप तच्च किम्॥१००॥
त्वं राजा सर्वलोकस्य पितुः पुत्रो रिपो रिपुः। पत्न्याः पतिः पिता सूनोः किं त्वां भूप वदाम्यहम्॥१०१॥
त्वं किमेतच्छिरः किं नु ग्रीवा तथा तथोदरम्। किमु पादादिकं त्वं वा तवैतत्किं महीपते॥१०२॥
समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूयव्यवस्थितः। कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव॥१०३॥
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे मयाहमिति भाषितुम्। पृथक्करणनिष्पाद्यं शक्यते नृपते कथम्॥१०४॥

इति श्रीविष्णुमहापुराणे द्वितीयेंऽशे त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

चौदहवाँ अध्याय

श्रीपराशर उवाच

निशम्य तस्येति वचः परमार्थसमन्वितम्। प्रश्रयावनतो भूत्वा तमाह नृपतिर्द्विजम्॥१॥

राजोवाच

भगवन्यत्त्वया प्रोक्तं परमार्थमयं वचः। श्रुते तस्मिन्भ्रमन्तीव मनसो मम वृत्तयः॥२॥
एतद्विवेकविज्ञानं यदशेषेषु जन्तुषु। भवता दर्शितं विप्र तत्परं प्रकृतेर्महत्॥३॥
नाहं वहामि शिबिकां शिबिका न मयि स्थिता। शरीरमन्यदस्मत्तो येनेयं शिबिका धृता॥४॥

न पशु है, न वृक्ष है, ये सब तो कर्मजन्य विभिन्न शरीरों के नाम हैं॥९८॥ राजन्! संसार में जो धन, राजा, राजा के सैनिक तथा अन्य दूसरी वस्तुएँ ये सभी कल्पनामय है सत्य नहीं हैं॥९९॥ जिसका परिणाम आदि के कारण कालान्तर में भी नाम नहीं बदलता है, राजन् ऐसी कौन सी वस्तु है?॥१००॥ राजन्! तुम सारी प्रजाओं के राजा हो, किसी के पिता हो, किसी के पुत्र हो, अपने शत्रु के लिए शत्रु हो, अपनी पत्नी के पति हो, पुत्र के पिता हो, बतलाओ इनमें से किस नाम से तुम्हें अभिहित करूँ॥१०१॥ तुम क्या यह शिर हो? या गला हो? या उदर हो? अथवा तुम पैर इत्यादि हो? अथवा ये सब शिर आदि तुम्हारे हैं क्या?॥१०२॥ तुम इन सभी अङ्गों से पृथक् हो, अतएव सावधानी पूर्वक विचार करो कि तुम कौन हो?॥१०३॥ तत्त्वों की इस तरह से व्यवस्था होने पर, आत्मा का निर्देश इन सबों से पृथक् करके ही किया जा सकता है, ऐसी स्थिति में उसे अहम् (मैं) शब्द से कैसे कहा जा सकता है?॥१०४॥

इसतरह श्रीविष्णुमहापुराण के दूसरे अंश के तेरहवें अध्याय का शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य) कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ॥१३॥

जडभरत और सौवीर नरेश का संवाद

श्रीपराशर महर्षि ने कहा— इस तरह की परमार्थ युक्त बातें सुनकर राजा ने उस ब्राह्मण से विनयावनत होकर कहा॥१॥ **राजा ने कहा—** भगवन्! आपने परमार्थ युक्त वचन कहा है, उन बातों को सुनकर मेरे मन की वृत्तियाँ भ्रान्त सी हो रही हैं॥२॥ आपने सम्पूर्ण जीवों के विषय में विवेक विज्ञान् को दर्शाया है, वह प्रकृति से भी महान् परंतत्त्व है॥३॥ मैं शिविका का वहन नहीं करता हूँ, और न तो शिविका मेरे कन्धे पर है, इस शिविका को

गुणप्रवृत्त्या भूतानां प्रवृत्तिः कर्मचोदिता। प्रवर्तन्ते गुणा ह्येते किं ममेति त्वयोदितम् ॥५॥
एतस्मिन्परमार्थज्ञ मम श्रोत्रपथं गते। मनो विह्वलतामेति परमार्थार्थितां गतम् ॥६॥
पूर्वमेव महाभागं कपिलर्षिमहं द्विज। प्रष्टुमभ्युद्यतो गत्वा श्रेयः किं त्वत्र शंस मे ॥७॥
तदन्तरे च भवता यदेतद्वाक्यमीरितम्। तेनैव परमार्थार्थं त्वयि चेतः प्रधावति ॥८॥
कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज। विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः ॥९॥
स एव भगवान्नूनमस्माकं हितकाम्यया। प्रत्यक्षतामत्र गतो यथैतद्भवतोच्यते ॥१०॥
तन्मह्यं प्रणताय त्वं यच्छ्रेयः परमं द्विज। तद्वदाखिलविज्ञानजलवीच्युदधिर्भवान् ॥११॥

ब्राह्मण उवाच

भूप पृच्छसि किं श्रेयः परमार्थं नु पृच्छसि। श्रेयांस्यपरमार्थानि अशेषाणि च भूपते ॥१२॥
देवताराधनं कृत्वा धनसम्पदमिच्छति। पुत्रानिच्छति राज्यं च श्रेयस्तस्यैव तन्नृप ॥१३॥
कर्म यज्ञात्मकं श्रेयः फलं स्वर्गाप्तिलक्षणम्। श्रेयः प्रधानं च फले तदेवानभिसंहिते ॥१४॥
आत्मा ध्येयः सदा भूप योगयुक्तैस्तथा परम्। श्रेयस्तस्यैव संयोगः श्रेयो यः परमात्मनः ॥१५॥
श्रेयांस्येवमनेकानि शतशोऽथ सहस्रशः। सन्त्यत्र परमार्थस्तु न त्वेते श्रूयतां च मे ॥१६॥
धर्माय त्यज्यते किन्नु परमार्थो धनं यदि। व्ययश्च क्रियते कस्मात्कामप्राप्त्युपलक्षणः ॥१७॥
पुत्रश्चेत्परमार्थः स्यात्सोऽप्यन्यस्य नरेश्वर। परमार्थभूतः सोऽन्यस्य परमार्थो हि तत्पिता ॥१८॥

धारण करने वाला शरीर मुझसे भिन्न है ॥४॥ आपने यह कहा है कि जीवों की प्रवृत्ति गुणों से प्रेरित होकर होती है। और गुण कर्म से प्रेरित होकर प्रवृत्त होते हैं, इसमें मेरा कर्तृत्व क्या है ? हे परमार्थज्ञ ! इस परमार्थ वाणी के मेरे कानों में जाते ही मेरा मन परमार्थ को जानने के लिए विह्वल हो रहा है ॥६॥ हे महाभाग द्विज ! मैं पहले ही महर्षि कपिल से यह पूछने के लिए जाने को तैयार था कि परमार्थ क्या है ? इसे आप मुझे बतलाइये ॥७॥ इसी बीच में आपने जो यह बात कहा उसी के कारण मेरा चित्त आपसे परमार्थ को जानने के लिए आपकी ओर प्रवृत्त हो रहा है॥८॥ हे द्विज ! कपिल ऋषि सर्वभूत भगवान् विष्णु के अंश हैं और संसार के अज्ञान को विनष्ट करने के लिए पृथिवी पर अवतीर्ण हुए हैं ॥९॥ किन्तु आप जो यहाँ कह रहे हैं, उसे सुनकर मुझे लगता है कि आपके रूप में यहाँ भगवान् कपिल ही प्रकट हो गये हैं ॥१०॥ हे द्विज ! आप तो विज्ञानरूपी जलतरङ्गों के सागर हैं, मैं आपके शरणागत हूँ, आप मुझे परं कल्याण का उपदेश दें ॥११॥ **ब्राह्मण ने कहा—** राजन् ! तुम श्रेय पूछना चाहते हो या परमार्थ ? क्योंकि सम्पूर्ण श्रेय अपरमार्थ होते हैं ॥१२॥ राजन् ! देवताओं की आराधना करके जो धन, सम्पत्ति, पुत्र तथा राज्य को प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए वे ही वस्तुएँ परमार्थ हैं ॥१३॥ जिससे स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति होती है, वह यज्ञादि कर्म श्रेय है; किन्तु प्रधान श्रेय कर्म फलों को नहीं चाहना है ॥१४॥ राजन् योगयुक्त पुरुषों को प्रकृति से परे आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि उस परमात्मा रूपी श्रेय का संयोग ही वास्तविक संयोग है ॥१५॥ इस तरह श्रेय सैकड़ों हजारों हैं, किन्तु ये परमार्थ नहीं तुम परमार्थ को सुनो ॥१६॥ यदि धन ही परमार्थ है तो फिर धर्म के लिए उसका परित्याग क्यों किया जाता है ? उसका व्यय कामनाओं की पूर्ति के लिए क्यों किया जाता है ? इससे सिद्ध होता है कि धन परमार्थ नहीं है ॥१७॥ यदि पुत्र परमार्थ हो तो वह दूसरे (अपने पिता) का परमार्थ है, और उसका पिता भी अपने पिता का परमार्थ है ॥१८॥ इस तरह स्पष्ट है कि इस चराचर जगत् में कुछ

एवं न परमार्थोऽस्ति जगत्यस्मिञ्चराचरे। परमार्थो हि कार्याणि कारणानामशेषतः ॥१९॥
राज्यादिप्राप्तिरत्रोक्ता परमार्थतया यदि। परमार्था भवन्त्यत्र न भवन्ति च वै ततः ॥२०॥
ऋग्यजुः सामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म मतं तव। परमार्थभूतं तत्रापि श्रूयतां गदतो मम॥२१॥
यत्तु निष्पाद्यते कार्यं मृदा कारणभूतया। तत्कारणानुगमनाज्ज्ञायते नृप मृण्मयम्॥२२॥
एवं विनाशिभिर्द्रव्यैः समिदाज्यकुशादिभिः। निष्पाद्यते क्रिया या तु सा भवित्री विनाशिनी ॥२३॥
अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम्॥२४॥
तदेवाफलदं कर्म परमार्थो मतस्तव। मुक्तिसाधनभूतत्वात्परमार्थो न साधनम्॥२५॥
ध्यानं चैवात्मनो भूप परमार्थार्थशब्दितम्। भेदकारि परेभ्यस्तु परमार्थो न भेदवान्॥२६॥
परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते। मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ॥२७॥
तस्माच्छ्रेयांस्यशेषाणि नृपैतानि न संशयः। परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतां मम॥२८॥
एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः। जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मा सर्वगतोऽव्ययः ॥२९॥
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः। न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यते॥३०॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्। विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥३१॥
वेणुरन्ध्रप्रभेदेन भेदः षड्जादिसंज्ञितः। अभेदव्यापिनो वायोस्तथास्य परमात्मनः ॥३२॥

भी परमार्थ नहीं है। पुत्र आदि को परमार्थ मानने पर सभी कारणों के कार्यों को परमार्थ मानना होगा ॥१९॥ यदि इस लोक में राज्य आदि की प्राप्ति को परमार्थ माना जाय तो, फिर उस परमार्थ को आगमापायी मानना होगा क्योंकि कभी राज्य मिलता है और कभी विनष्ट हो जाता है ॥२०॥ यदि तुम ऋग् यजुः एवं साम के द्वारा प्रतिपाद्य यज्ञ कर्म को परमार्थ मानो तो उसके परमार्थ के विषय में मेरा विचार सुनो ॥२१॥ जो घट शरावादि कार्य मृदादि कारणजन्य होते हैं, वे कारण द्रव्य मृदात्मक ही होते हैं ॥२२॥ इसी तरह समिधा, कुश, घी आदि विनाशी द्रव्य से निष्पाद्य यज्ञ भी विनाशशील होगा ॥२३॥ और प्राज्ञ पुरुष परमार्थ को नाश रहित मानते हैं। किन्तु नाशवान् द्रव्यों से निष्पन्न होने वाला यज्ञ निसन्देह रूप से नाशवान् है ॥२४॥ यदि फलाभिसन्धि से रहित कर्मों को तुम परमार्थ मानो तो वह भी मुक्तिरूप फल को प्रदान करने वाला होने के कारण साधन ही है, परमार्थ नहीं है ॥२५॥ राजन्! यदि आत्मा के ध्यान को परमार्थ माना जाय तो वह भी दूसरों से भेद करने वाला होने के कारण परमार्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि परमार्थ भेद से रहित होता है ॥२६॥ यदि आत्मा से परमात्मा के संयोग को परमार्थ माना जाय तो यह भी संभव नहीं हैं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नहीं हो सकता है ॥२७॥ अतएव हे राजन्! ये सारी वस्तुएँ निसन्देह रूप से श्रेय हैं, परमार्थ नहीं हैं। और परमार्थ को मैं तुम्हें संक्षेप में सुनाता हूँ ॥२८॥ आत्मा एक, व्यापक, सर्वदा एक समान रहने वाला, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृति से परे, जन्मवृद्धि आदि षडूर्मियों से रहित, सर्वगत, और निर्विकार है॥२९॥ वह परमज्ञान स्वरूप है, उसका असत् नाम तथा जाति आदि से न तो कभी संबन्ध हुआ और न होगा॥३०॥ वह अपने तथा दूसरों के शरीर में रहते हुए भी देवादि समस्त शरीरों में एक समान रहने वाला विज्ञान स्वरूप आत्मा ही परमार्थ है। उसमें देवादि भेदबुद्धि रखने वाले अज्ञानी हैं ॥३१॥ जिस तरह वीणा के अनेक छिद्रों में रहने वाले वायु के अंश वायुत्वेन एक और व्यापक हैं, उनकी षड्ज आदि संज्ञा तो छिद्र भेद के कारण होती है। इसी तरह आत्मा में देवादि भेद की प्रतीति तो शरीर में प्रवेश कृत होने के कारण औपाधिक है ॥३२॥

एकस्वरूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः । देवादि भेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणे हि सः ॥३३॥

इति श्रीविष्णुमहापुराणे द्वितीयेंऽशे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीपराशर उवाच

इत्युक्ते मौनिनं भूयश्चिन्तयानं महीपतिम् । प्रत्युवाचाथ विप्रोऽसावद्वैतान्तर्गतां कथाम् ॥१॥

ब्राह्मण उवाच

श्रूयतां नृपशार्दूल यद्गीतमृभुणा पुरा । अवबोधं जनयता निदाघस्य महात्मनः ॥२॥
ऋभुर्नामाऽभवत्पुत्रो ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । विज्ञाततत्त्वसद्भावो निसर्गादिव भूपते ॥३॥
तस्य शिष्यो निदाघोऽभूत्पुलस्त्यतनयः पुरा। प्रादादशेषविज्ञानं स तस्मै परया मुदा ॥४॥
अवाप्तज्ञानतन्त्रस्य न तस्याद्वैतवासना । स ऋभुस्तर्कयामास निदाघस्य नरेश्वर ॥५॥
देविकायास्तटे वीरनगरं नाम वै पुरम्। समृद्धमतिरम्यं च पुलस्त्येन निवेशितम् ॥६॥
रम्योपवनपर्यन्ते स तस्मिन्पार्थिवोत्तम। निदाघो नाम योगज्ञ ऋभुशिष्योऽवसत्पुरा ॥७॥
दिव्ये वर्षसहस्रे तु समतीतेऽस्य तत्पुरम्। जगाम स ऋभुः शिष्यं निदाघमवलोकक: ॥८॥
स तस्य वैश्वदेवान्ते द्वारालोकनगोचरे। स्थितस्तेन गृहीतार्घ्यो निजवेश्म प्रवेशितः ॥९॥

आत्मा तो सदा एकमात्र ज्ञानस्वरूप है, उसमें देवादि भेदों की प्रवृत्ति वाह्य कर्मों में होने वाली प्रवृत्ति के कारण है । देवादि भेदों के विनष्ट हो जाने पर वह वाह्य कर्म रूपी आवरण नहीं रह जाता है ॥३३॥

इस तरह श्रीविष्णुमहापुराण के द्वितीय अंश के चौदहवें अध्याय का शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य) कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ ॥१४॥

ऋभु द्वारा निदाघ को आत्मोपदेश

श्रीपराशर महर्षि ने कहा— इस तरह से कहने पर जब राजा मौन हो गये तब भेद का चिन्तन करने वाले राजा को उस ब्राह्मण ने अद्वैत विषयिणी कथा सुनायी ॥१॥ **ब्राह्मण ने कहा—** हे राजन् ! निदाघ को ज्ञानोपदेश करते हुए जो ऋभु ने कहा था उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ सुनो ॥२॥ परमेष्ठि ब्रह्माजी के पुत्र ऋभु थे । हे राजन् ! उनको स्वभाविक रूप से तत्त्वज्ञान था ॥३॥ उनके शिष्य पुलस्त्य के पुत्र निदाघ हुए । अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्होंने निदाघ को सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान कर दिया ॥४॥ हे राजन् ! ऋभु ने जान लिया कि सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता निदाघ को अद्वैत में निष्ठा नहीं है ॥५॥ प्राचीनकाल में देविका नदी के तट पर महर्षि पुलस्त्य ने वीरपुर नाम के एक समृद्ध नगर को बसाया ॥६॥ मनोहर उपवनों से सुशोभित उस नगर में ऋभु के शिष्य निदाघ रहते थे । वे योग के ज्ञाता थे ॥७॥ देवताओं के एक हजार वर्ष बीत जाने के पश्चात् ऋभु अपने शिष्य निदाघ को देखने के लिए उस नगर में गये ॥८॥ उस समय निदाघ बलिवैश्वदेव करके द्वार पर अतिथि की प्रतीक्षा कर रहे थे, उनको अर्घ्य प्रदान करके निदाघ अपने भवन में ले गये ॥९॥ हाथ-पैर धोकर आसन पर बैठाकर द्विजश्रेष्ठ निदाघ ने ऋभु से आदरपूर्वक कहा